विपश्यना : कर्मक्षय का मार्ग

☐ कन्हैयालाल लोढ़ा, एम ए.

विपश्यना स्वरूप

'विपश्यना' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'पश्य' धातु से बना है। पश्य का अर्थ है दर्शन। वर्तमान में दर्शन शब्द केवल 'देखना' अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु बुद्ध व महावीर के काल में पश्य या दर्शन शब्द संवेदन, साक्षात्कार या अनुभव करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था। 'वि' उपसर्ग 'विशेष' अर्थ का द्योतक है। अतः विपश्यना शब्द का अर्थ है—विशेष रूप से दर्शन या साक्षात्कार करना।

यहाँ विशेष से अभिप्राय यह है कि जो जैसा है उसे ठीक वैसा ही अनुभव करना अर्थात् बिना किसी प्रकार की मिलावट, जोड़ व भ्रान्ति के वस्तुस्थिति का साक्षात्कार करना। साधारणतः मानव जो साक्षात्कार करते हैं, वे राग-रंजित, द्वेष-दूषित व मोह-मूच्छित होकर करते हैं। अतः वह शुद्ध साक्षात्कार न होकर राग-द्वेष-मोह से युक्त अशुद्ध साक्षात्कार होता है। इसी अशुद्ध साक्षात्कार का निषेध करने के लिए यहाँ 'वि' (विशेष) उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। दूसरे शब्दों में वस्तुस्थिति की सच्चाई का साक्षात्कार करना ही विपश्यना है।

विपश्यना धर्म

वस्तु या प्रकृति के स्वभाव को धर्म कहा जाता है। जैसे आग का स्वभाव; उष्णता आग का धर्म है और वस्तु के स्वभाव का साक्षात्कार करना ही विपश्यना है अर्थात् वस्तु या प्रकृति का वास्तविक रूप ही धर्म है और उस धर्म का साक्षात्कार या अनुभव करना ही विपश्यना है। इस प्रकार धर्म और विपश्यना एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

विपश्यना : सत्य का साक्षात्कार

सत्य का साक्षात्कार बुद्धिजन्य कल्पनाओं, जल्पनाओं व मान्यताओं से नहीं होता है, अपितु अनुभव से होता है। उस सत्य पर चलने से होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति जीवन में सत्य को स्थान देता जाता है, उस पर आचरण करता है, चरण बढ़ाता है वैसे-वैसे वह सत्यता की गहराई व सूक्ष्मता का अधिकाधिक साक्षात्कार करता जाता है। यह नियम है कि जो जितना ही सूक्ष्म होता है वह उतना ही विभु, विशेषता लिए और अधिक सक्षम होता है तथा अलौकिक, विलक्षण व अचिन्त्य शक्तियों का भण्डार होता है। यही नियम या तथ्य विपश्यना पर भी घटित होता है।

विपश्यना में जिस सत्य का साक्षात्कार होता है उस पर चलने से प्रकृति के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम सत्यों (सिद्धान्तों), धर्मों व शक्तियों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने लगता है और अन्त में अपने ही में विद्यमान अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तसामर्थ्य प्रकट हो जाता है फिर वह सर्वथा बन्धनमुक्त होकर सदा के लिए भव-भ्रमण व दुःख से छुटकारा पा जाता है।

विपश्यना : ऋजु मार्ग

वस्तुतः विपश्यना कोई रहस्य, जादू या चमत्कार नहीं है; प्रत्युत् सत्य को साक्षात्कार करने के क्रमिक विकास का सरल व सुगम मार्ग है। इसमें न तो कोई छिपाने की बात है और न कुछ जोड़ने की बात है; न कुछ साधन सामग्री की, न दार्शनिक बुद्धि की और न भाषाज्ञान की आवश्यकता है। केवल अपने ही अन्तरंग में विद्यमान दर्शन व ज्ञान को स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ाना है। विपश्यना अपनी ही अनुभूतियों से अपनी भ्रान्तियों (मिथ्या मान्यताओं) को मिटाते हुए पूर्ण सत्य व शुद्ध दर्शन-ज्ञान को प्रकट करने का मार्ग है, प्रक्रिया है। जिस पर चलने में मानवमात्र समर्थ है भले ही वह किसी भी जाति का हो, किसी भी देश का हो, कोई भी व्यवसाय करने वाला हो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी भी आयु वाला हो—किशोर हो, युवा हो, वृद्ध हो, विद्वान हो, निरक्षर हो, धनवान हो, निर्धन हो, स्त्री हो पुरुष हो।

प्रस्तुत लेख में विपश्यना साधना से किस प्रकार कर्मक्षय होकर दुःख से मुक्ति मिलती है, इस पर प्रकाश डाला जायेगा।

विपश्यना : आध्यात्मिक विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया

चित्त की स्थिरता—चित्त को स्थिर करने का प्रारम्भिक उपाय है चित्त को श्वास के आवागमन पर लगाना। इससे चित्त का भटकना रुक जाता है, चित्त स्थिर हो जाता है। फिर श्वास पर स्थित चित्त को शरीर की त्वचा (चमड़ी) की संवेदना पर लगाया जाता है। चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता के कारण त्वचा पर होने वाली क्रियाओं (संवेदनाओं) का अनुभव होने लगता है। चित्त को आगे बढ़ाते हुए सिर से पैर तक, पैर से सिर तक सारे शरीर की संवेदनाओं को बार-बार देखने से चित्त की स्थिरता, समता व सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। निरन्तर अभ्यास से यह वृद्धि अधिकाधिक होती जाती है।

समता—विपश्यना में चित्त को शरीर के बाहरी व भीतरी भाग के सूक्ष्म स्तरों पर लगाने से वहाँ उत्पन्न होने वाली अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनाओं का अनुभव होता है। यदि चित्त अनुकूल संवेदनाओं में राग और प्रतिकूल संवेदनाओं में द्वेष करने लगता है, उनमें हर्ष व दुःख का भोग करने लगता है तो चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता खो देता है, चित्त चंचल व स्थूल हो जाता है। उन अनुकूल-प्रतिकूल, सुखद-दुःखद संवेदनाओं का अनुभव करते हुए, राग-द्वेष न करते हुए केवल उनको सिर्फ देखते रहना विपश्यना है। इससे समभाव प्रगाढ़ होता है, संयम स्वयं परिपुष्ट होता है और मन, वचन व काया की प्रवृत्तियों का संवर होता है।

दर्शनावरण-क्षय—विपश्यना में चित्त की समता, स्थिरता, सूक्ष्मता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् दर्शन का आवरण क्षीण होता जाता है और दर्शन या अनुभव स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम रूप में विकसित होता जाता है। हमारे शरीर में व त्वचा पर प्रत्येक स्थान या अणु पर निरन्तर किसी न किसी प्रकार की क्रिया चालू रहती है परन्तु हमारे दर्शन (अनुभव) की शक्ति विकसित न होने से, दर्शन पर आवरण आने से उन क्रियाओं से जनित संवेदनाओं का हम दर्शन (साक्षात्कार) नहीं कर पाते हैं। परन्तु विपश्यक चित्त के संवर व संयम से दर्शन के आवरण को कम करता है जिससे उसको पहले शरीर के बाहरी स्तर पर होने वाली संवेदनाओं का दर्शन होने लगता है। फिर जैसे-जैसे संयम या संवर या समभाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे दर्शनावरण हटता जाता है जिससे शरीर में मांस, रक्त, हड्डियों में उत्पन्न होने वाली क्रियाओं, तरंगों का संवेदन या अनुभव विपश्यक करने लगता है। यहाँ तक कि वह शरीर में होने वाली रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं, विद्युत्-चुम्बकीय लहरों की संवेदनाओं का भी दर्शन करने लगता है।

इस प्रकार दर्शन की शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तर पर प्रकट होने लगती है। फिर जैसे-जैसे समता-संयम-संवर का स्तर ऊँचा होता जाता है, बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही दर्शनावरण की उदीरणा व निर्जरा होती जाती है जिससे उसकी दर्शन की शक्ति प्रकट होती है और वह व्यक्ति चित्त में उठने वाली लहरें, उससे बँधने वाले कर्म, अचेतन मन में उठने वाली लहरें तथा उससे भी सूक्ष्म स्तर पर स्थित अपने पूर्वजन्म के संचित संस्कारों, कर्मों व ग्रन्थियों का दर्शन करने लगता है और संवर व निर्जरा जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तो दर्शन के समस्त आवरण-पर्दे हट जाते हैं तथा राग-द्वेष के हट जाने से उसका दर्शन विशुद्ध केवलदर्शन हो जाता है।

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय—ज्ञान अनेक प्रकार का होता है; यथा इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला शब्द, वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श का ज्ञान, चिन्तन व बुद्धिजन्य ज्ञान, दूसरों से सुना हुआ ज्ञान आदि। परन्तु इन ज्ञानों से वस्तु के स्थूल व बाहरी स्तर का ही बोध होता है जिससे वस्तु की यथार्थता जो सूक्ष्म व आन्तरिक स्तर पर होती है उसका बोध नहीं होता है। यह अयथार्थ ज्ञान हितकारी व कल्याणकारी नहीं होना है। अतः इसे असम्यक्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहा है।

विपश्यना से जैसे-जैसे दर्शन के आवरण क्षीण होते जाते हैं तथा समताभाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अनुभव-शक्ति बढ़ती जाती है जिससे वस्तु के सूक्ष्म, आन्तरिक स्वरूप का वास्तविक व कल्याणकारी बोध होता है। ऐसा ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान कहा जाता है।

विपश्यक दर्शन या अनुभव के स्तर पर प्रत्यक्ष देखता है कि केवल बाहरी स्थूल जगत ही नहीं बदल रहा है अपितु हमारे शरीर की त्वचा, रक्त, मांस, अस्थियों में भी प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तन हो रहा है। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्तन सूक्ष्मजगत में और भी अधिक तेजी से, शीघ्रता से हो रहा है। शरीर के ऊपरी भाग से भीतरी भाग में, शरीर में उत्पन्न विद्युत्-चुम्बकीय लहरों में, मन में, अवचेतन मन में हजारों-लाखों गुना अधिक द्रुतगति से परिवर्तन हो रहा है। यहाँ तक कि वस्तु के सूक्ष्मतम स्तर पर यह उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तन एक पल में करोड़ों-अरबों व इससे भी अधिक अगणित बार होता है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है।

इस प्रकार विपश्यना से जैसे-जैसे आवरण क्षीण होते जाते हैं वैसे ही वैसे संसार की अनित्यता का प्रत्यक्ष दर्शन (साक्षात्कार) होता जाता है। ऐसे अनित्य संसार में आत्म-बुद्धि रखना, उसे अपना मानना, उससे रक्षण व शरण की आशा करना अज्ञानता है। वह संयोग में वियोग का, जीवन में मृत्यु का दर्शन करने लगता है जिससे उसमें तन, मन, धन, जन आदि समस्त परिवर्तनशील अनित्य वस्तुओं के प्रति ममत्वभाव अर्थात् मैं व मेरेपन रूप अपनेपन का 'आत्म-भाव' हटता जाता है और अनात्मभाव की जागृति होती जाती है। वह अनुभूति के आधार पर यह भी जानता है कि रोग, वृद्धावस्था, इन्द्रियों की शक्ति-क्षीणता, मृत्यु, अभाव, वेदना, पीड़ा आदि तो दुःख हैं ही परन्तु संसार में जिसे सुख या आनन्द कहा जाता है वह भी दुःखरूप ही है। कारण कि वह आनन्द राग व मोहजनित होता है। राग की उत्पत्ति चित्त में असंख्य लहरों रूपी तूफान उठने से होती है। यह राग या चित्त की लहरों का तूफान, समता के सागर की शान्ति को भंग कर देता है जिससे चित्त अशान्त, आकुल, आतुर व तनावमय तथा मूर्च्छित हो जाता है। वह रागजनित चित्त की इस स्थिति में अर्थात् इन्द्रिय-भोगों के सुख में असुख (दुःख) का दर्शन करने लगता है और अनित्य, अशरण व दुःखद संसार में सम्बन्ध स्थापित करने व सुख चाहनेरूप अज्ञानता से अपने को बचाता है।

विपश्यक यह भी देखता है कि संसार की प्रत्येक घटना कारण-कार्य के अनिवार्य नियमानुसार घटित हो रही है। वस्तुतः कोई भी घटना अप्रत्याशित, आकस्मिक या अनहोनी रूप में नहीं घटती है। जो भी घटित हो रहा है वह कर्म के नियम (कारण-कार्य के सिद्धान्त या विधान) के अनुसार घटित हो रहा है। जिस प्रकार प्रकृति के नियमानुसार जैसा बीज बोया जाता है वैसा ज्ञान मिलता है; उसी प्रकार जो जैसा कर्म करता है उसे उसका वैसा ही फल भोगना पड़ता है अर्थात् जो भी सुखद-दुःखद स्थिति प्राप्त होती है वह अपने ही पूर्व में किये गये कर्मों का फल है। अतः उसमें न तो शिकायत व शोक की बात है और न हर्ष या विषाद की। उस घटना या परिस्थिति को भला-बुरा मानना या कोसना व राग-द्वेष करना अज्ञानता है।

विपश्यना से सूक्ष्मदर्शन या साक्षात्कार करने में प्रगति होती है, प्रज्ञा बढ़ती जाती है। फलतः लोक के सूक्ष्मतत्त्वों का या गहन नियमों का ज्ञान अधिक से अधिक होता जाता है तथा ग्रन्थिनिर्माण, आस्रव, कर्मबन्ध, कर्म-विपाक, जाति-स्मरण, जन्म-मरण, संवर-निर्जरा, विमोक्ष आदि का प्रत्यक्ष (स्पष्ट) ज्ञान होने लगता है। जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना ही विभु व शक्तिशाली होता है। इस नियम के अनुसार विपश्यना द्वारा सूक्ष्मतत्त्वों का प्रत्यक्षीकरण होने से सीमित व विकृत ज्ञान विशद् विशुद्ध होता जाता है। अन्त में ज्ञान पर से जब सर्व आवरण हट जाते हैं तो पूर्ण निर्मल अनन्तज्ञान प्रकट हो जाता है।

मोहनीय क्षय—विपश्यना के अभ्यास से जैसे-जैसे समता व सूक्ष्म अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे राग-द्वेष-मोह आदि से उठने वाली लहरों का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है तथा वह यह भी देखने लगता है कि राग-द्वेष से नवीन ग्रन्थियों का निर्माण होता है। ये ग्रन्थियाँ समय पाकर फल देती हैं, इनसे तन-मन का सर्जन होता है तथा जन्म-मरण व सुखद-दुःखद संवेदनाएँ पैदा होती हैं। उन सुखद-दुःखद संवेदनाओं में प्रतिक्रिया करने से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। फिर नवीन ग्रन्थियों का निर्माण होता है, जन्म-मरण, सुखद-दुःखद संवेदनाओं की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह क्रम बार-बार चलने लगता है। यही भव-भ्रमण अनन्तकाल से चल रहा है तथा वह यह भी अनुभव करने लगता है कि लहर द्वेष की उठे या राग की उठे अथवा अन्य किसी भी प्रकार की उठे उसमें समताजनित शान्ति, सुख, स्वाधीनता, सन्तुष्टि का लोप हो जाता है और अशान्ति, क्षुब्धता व आकुलता, आतुरतारूप दुःख का उदय हो जाता है। इस प्रकार जहाँ पहले वह राग-द्वेष, मोह, हिंसा, झूठ आदि दोषों में सुख का आस्वादन करता था अब इनमें दुःख का अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार वह विपश्यक इस परिणाम पर पहुँचता है कि दुःख या भव-चक्रभेदन का एक ही उपाय है कि नवीन ग्रन्थियों का निर्माण न हो और पुरानी ग्रन्थियों का भेदन व उदीरणा होकर निर्जरा हो जाय।

नवीन ग्रन्थियों का निर्माण पुराने कर्म के फल भोगते समय राग-द्वेषरूप प्रतिक्रिया करने से होता है। अतः नवीन ग्रन्थियों के निर्माण को रोकने का एक ही उपाय है कि पुराने कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न सुखद संवेदनाओं में राग न करे, दुःखद संवेदनाओं (स्थितियों) में द्वेष न करे अर्थात् समता (द्रष्टाभाव) में रहे। इस प्रकार समता में रहने-रूप संवर से नवीन ग्रन्थियों (कर्मों) का निर्माण रुक जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरानी ग्रन्थियों (कर्मों) के नाश का उपाय है—उन ग्रन्थियों का भेदन करना। तन, मन, धन, जन आदि सबसे आसक्ति (राग-द्वेष) छोड़ना—समता में रहना यह स्थूलग्रन्थिभेदन है। सूक्ष्म-शरीर, चित्त, अवचेतन मन आदि के स्तर पर प्रकट व उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं (ग्रन्थियों) का धुन-धुन कर विभाजन करना, टुकड़े-टुकड़े करना यह सूक्ष्मग्रन्थिभेदन है। इस ग्रन्थि-भेदन से पुराने कर्मों के समुदाय की तीव्रता के साथ उदीरणा होकर निर्जरा होती है।

इस ग्रन्थि-भेदन में ध्यान (चित्त की एकाग्रता या समता), स्वाध्याय ('स्व' का अध्ययन, स्वानुभव), कायोत्सर्ग (सूक्ष्मतर स्तर पर तन का, मन का उत्सर्ग करना) एक साथ होता है। राग-द्वेष व मोह पर विजय मिलती है अर्थात् राग-द्वेष माया-मोह का प्रवाह या प्रभाव घटता जाता है। यह विजय उसके उत्साह, सुख, साता, शान्ति, स्वाधीनता को बढ़ाती है जिससे उसमें राग-द्वेष पर और अधिक विजय पाने का पुरुषार्थ जग जाता है। इस प्रकार धर्मचक्र से वह धीरे-धीरे समता की परमावस्था में पहुँच कर राग-द्वेष-मोह आदि विकारों पर पूर्ण विजय पाकर वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह हो जाता है।

अन्तराय क्षय—विपश्यना साधना से जैसे-जैसे राग-द्वेष-मोह घटते जाते हैं, समता भाव बढ़ता जाता है वैसे ही अनुभव के क्षेत्र में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रगति होती जाती है तथा आन्तरिक शक्तियाँ व अनुभूतियाँ प्रकट होती जाती हैं। आन्तरिक शक्ति के बढ़ने से उसका पुरुषार्थ, वीर्य बढ़ता है जो उत्साह के रूप में प्रकट होता है और उद्देश्य या लक्ष्य की सिद्धि या सफलता प्राप्ति में सहायक होता है।

आन्तरिक शक्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे अधिक से अधिक सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूति बढ़ती जाती है जो समत्व व प्रीति (मैत्री) के रस के रूप में 'भोग' व प्रमोद के रस के रूप में 'उपभोग' में व्यक्त होती है।

विपश्यना से विरतिभाव बढ़ता है जो कामनाओं, वासनाओं, कृत्रिम आवश्यकताओं को घटाता है। इनकी उत्पत्ति न होने से इनकी अपूर्ति से होने वाला दुःख उसे सहन नहीं करना पड़ता व सन्तुष्टि व तृप्तिभाव की अनुभूति होती है तथा उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः हो जाती है। कारण कि यह प्राकृतिक नियम है कि जो प्राप्त का सदुपयोग करता है उसे उससे अधिक हितकर वस्तुओं की प्राप्ति अर्थात् लाभ अपने आप होता है। अभाव का दुःख उसे पीड़ित नहीं करता है उसका चित्त समृद्धि से भरा होता है।

विपश्यना-साधना से जैसे-जैसे राग पतला पड़ता जाता है वैसे-वैसे स्वार्थपरता, संकीर्णता घटती जाती है, सेवाभाव, करुणाभाव, परोपकार या दान की वृत्ति की भावना बढ़ती जाती है।

इस प्रकार विपश्यना-साधना से जैसे-जैसे राग-द्वेष-मोह क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे दान, लाभ, भोग (प्रेमरस, मैत्रीरस), उपभोग (प्रमोदरस), वीर्य (पुरुषार्थ) आदि आन्तरिक गुणों की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती जाती है और पूर्ण वीतराग अवस्था में ये गुण असीम व अनन्त हो जाते हैं।

आशय यह है कि विपश्यना से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय कर्म क्षीण होते हैं। इन चारों का परस्पैर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इनमें से किसी एक कर्म के क्षीण होने का प्रभाव शेष तीन कर्मों पर भी पड़ता है और उनमें भी क्षीणता आ जाती है।

उपर्युक्त चार कर्मों का सम्बन्ध चेतन के निज गुण, ज्ञान, दर्शन, पवित्रता व वीर्य से है। इन कर्मों के कारण इन गुणों में विकृति व न्यूनता आती है। इन कर्मों के क्षीण होने से इन गुणों में वृद्धि होती है और पूर्ण रूप से क्षीण होने पर इन गुणों में असीमता आ जाती है।

उपर्युक्त चार कर्मों के अतिरिक्त नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय—ये चार कर्म और हैं। ये कर्म शरीर, मन आदि भौतिक या बाहरी पदार्थों से सम्बन्धित हैं। यह नियम है कि भीतरी स्थिति के अनुरूप ही बाहरी स्थितियों एवं परिस्थितियों का निर्माण होता है या यों कहें कि चेतना की सूक्ष्मशक्तियों व गुणों की न्यूनाधिकता के अनुरूप ही प्रकृति भौतिक पदार्थों, तन-मन, इन्द्रियादि की संरचनादि करती है। यही नामकर्म है। नाम कर्म से उत्पन्न शरीर के टिकने की अवधि आयुकर्म है। शरीर से सम्बन्धित जन्मजात संस्कार गोत्रकर्म है और शरीर चित्तादि के माध्यम से होने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाएँ वेदनीयकर्म है। इन चारों कर्मों की उत्पत्ति का कारण राग-द्वेष, मोह व भोगेच्छा है। अतः विपश्यना-साधना से राग-द्वेष-मोह जैसे-जैसे हटता जाता है और आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है; उसका प्रभाव नाम, गोत्र, आयु व वेदनीय इन चारों पर भी पड़ता है। राग-द्वेष मोह के पूर्ण हट जाने पर फिर शरीर, आयु, गोत्र के निर्माण करने वाले कर्मों का बन्ध रुक जाता है। पुराने कर्म उदय व उदीरणा को प्राप्त होकर निर्जरित हो जाते हैं। तदनन्तर कर्मातीत अवस्था हो जाती है जो अनिर्वचनीय है, अनुभवगम्य है। इसे ही निर्वाण कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि विपश्यना से अर्थात् संवर उदीरणा (निर्जरा) की साधना से साधक के सब कर्म क्षय होकर वह शुद्ध, बुद्ध व मुक्त हो जाता है।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org